श्रीहरिः

भारत में अतिथि सत्कार

लेखक—

पूज्य स्वामी श्री करपात्री जी महाराज के शिष्य

श्री स्वामी अनन्तानन्द सरस्वती जी महाराज

सम्पादक, प्रकाशक

श्रीसन्तशरण वेदान्तीजी

प्रचारमंत्री

अ० भा० धर्मसंघ शिक्षामण्डल

दुर्गाकुण्ड, वाराणसी

सहायता १)

श्री।

दो शब्द

भारतीय दर्शन की भांति भारतीय समाजशास्त्र भी अपने में परिपूर्ण है। भारतीय समाजशास्त्र के तीन भाग हैं।

एक आचारशास्त्र

मनुष्य जन्म लेने पर उसे जैसा बनना है वसा बनने के लिए क्या करना पड़ता है इसका विचार तथा उपदेश इस भाग में है? भारत में अनेक जातियाँ हैं? ब्राह्मण, २—क्षत्रिय, ३—वैश्य, ४—शूद्र, ५—अन्त्यज ६—म्लेच्छ। इन सबके लिए आचार का निरूपण है।

दूसरा व्यवहारशास्त्र

इस भाग में एक प्रकार के आचार वालों से भिन्न प्रकार के आचार वालों के साथ गांव में, समाज में कैसा व्यवहार करना, सम्पत्ति का अधिकार, ऋण लेना देना, राजा का कर्तव्य विचारा गया है।

तीसरा दण्ड

दण्ड दो प्रकार का है एक है। सामाजिक। दूसरा राजा द्वारा। इस भारतीय समाजशास्त्र को धर्मशास्त्र भी कहा जाता है।

भारतीय शास्त्रों में धर्माचरण के लिए व्यक्तिगत सम्पत्ति रखने का अधिकार है। अतएव शासक ही नहीं सामान्य जन भी दान आदि के द्वारा पुण्यार्जन करते हैं। दान लेने के लिए कभी कभी राजा भी विवश होते हैं। ऐसी स्थिति ही अतिथि की होती है। उसके प्रति समाज का तथा व्यक्ति का क्या कर्तव्य है यह शास्त्रों के अतिरिक्त उपनिषदों पुराणों के कथानकों में भी वर्णित है।

प्रकृत भारत में अतिथि सत्कार में अतिथि प्राप्त होने पर क्या करना चाहिए। अतिथि का स्वरूप, उनके प्रति गृहपति का कर्तव्य विचारित हैं।

स्वामी श्री अनन्तानन्द सरस्वती जी महाराज ने इस विषय का कठोपनिषद् की आख्यायिका के साथ सुन्दर विवेचन किया है। विज्ञजन इससे परिचित हों अतएव प्रकाशित किया जा रहा है।

रंगभरी एकादशी सन्तशरणवेदान्तीजी

२०३३ वि०

श्रीगणेशाय नमः

भारत में अतिथि सम्मान

नमो भगवते वैवस्वताय मृत्यवे ब्रह्मविद्याचार्याय नचिकेतसे च ।

यस्मिन्निदं यतश्चेदं येनेदं य इदं स्वयम् ।

योऽस्मात्परस्माच्च परस्तं प्रपद्ये स्वयंभुवम् ।।

एक समय था जब भारत में यज्ञों का घर घर में प्रचार था, यज्ञ के धूम और उसके सौरभ सुगन्ध से आकाश मण्डल परिपूर्ण रहता था। वेद मन्त्रों से दिशायें गूंजती थी। यज्ञ में अपने अपने भाग लेने के लिये स्वर्ग से देवगण पृथवी में आते थे। यज्ञ के द्वारा इन्द्रादि देव तृप्त होते थे, एवं यज्ञों से तृप्त देवता सब प्रकार के इष्ट भोगों को देते थे । 'देवान्भावतानेन ते देवा भावयन्तु वः' । ब्रह्माजी के इस आदेश को सफल बनाते थे, सभी प्राणी पवित्र एवं आनन्द से प्रफुल्लित थे ।

कठोपनिषद में एक आख्यायिका है वाजिश्रवा ऋषि के पुत्र उद्दालक मुनि ने विश्वजित नामक यज्ञ किया। इस विश्वजित यज्ञ में यजमान को सर्वस्व दान करना पड़ता है। जब यज्ञ समाप्त हुआ तब उद्दालक ऋत्विक् और सदस्यों को अपना सर्वस्व धन दान करने लगे, उसमें गाये भी थी, उन गायों में कुछ गायें 'पीतोदका जग्धतृणा दुग्धदोहा निरिन्द्रियां (अन्तिम बार जल पी चुकी थी, घास खा चुकी थी और निरिन्द्रिया अर्थात् गर्भ धारण करनेमें असमर्थ) थी। भाव यह कि शक्तिहिन वृद्धा गौओं को दान करते देखकर उद्दालक ऋषि का एकमात्र पुत्र नचिकेता जो अभी वालक था, किन्तु निर्मल अन्तःकरण वाला होने से उसमें श्रद्धा आस्तिक्य बुद्धि प्रवेश कर गई। तब नचिकेता विचार करने लगा। यज्ञ के अन्त में गोदान अवश्य होना चाहिये, किन्तु नहीं देने योग्य गौओं के दान से तो दाता को यज्ञ का फल स्वर्गादि न होकर उलटे अमंगल होता है।

'अनन्दा नाम ते लोकास्तान् स गच्छति ता ददत्'

असमर्थ बूढ़ी निष्फल गौओं के दक्षिणा बुद्धि से देने वाला यजमान आनन्द शून्य अर्थात् दुःखमय नरक प्राप्त होता है। पिता को नरक से त्राण करना ही पुत्र का पुत्रत्व है। इसीलिये तो 'पुन्नाम्नोनरकात्-पितरं त्रायते पुत्रः' यह पुत्र शब्द की व्युत्पत्ति है, अतः अपने को वलिदान देकर भी पिता को नरक से बचाना चाहिये, ऐसा विचार कर अपने पिता से कहा—

हे पिता जी! आप सर्वस्व दान कर रहे हैं मैं भी तो आपका धन हूं मुझे किसको दान देते हैं, 'तात कस्मै मां दास्यतीति' इसको सुनकर पिता कोई उत्तर नहीं दिया, नचिकेता ने पुनः कहा 'कस्मै मां दास्यसीति' पिता फिर भी कुछ उत्तर नहीं दिया; जब तीसरी वार कहा—'कस्मै मां दास्यस्तीति'। तव उद्दालक ने कहा—'नायं कुमारस्य स्वभावः' वालकों का तो ऐसा स्वभाव नहीं होता ऐसा विचार क्रोधित होकर वोले कि मैं तुझे मृत्यु को देता हूं, (मृत्यवेत्वां ददामीति)।'

पिता के इस वचन को सुनकर एकान्त में अनुताप करते हुये अपने मन में विचार करने लगा, कि पुत्र और शिष्यों की तीन श्रेणियां हुआ करती है। प्रथम वह है जो कि गुरु के अभिप्राय जानकार उनकी आज्ञा की प्रतीक्षा किये बिना ही सेवा करने लग जाय, मध्यम श्रेणी में वह है जो आज्ञा पाने पर सेवा करे, तीसरा निकृष्ट श्रेणी का वह है जो अभिप्राय जानकर और आज्ञा सुनकर भी कार्य न करे। मैं निक्रिष्ट श्रेणी में तो नहीं हूं, प्रथम श्रेणी में भी चाहे नहीं होऊं, किन्तु मध्यम श्रेणी में अवश्य हूं। यमराज का कौन सा कार्य मेरे द्वारा सम्पन्न करेंगे। पिता जी अवश्य ही किसी प्रयोजन की अपेक्षा न करके क्रोध के आवेश में ही ऐसा कहा है। कुछ भी हो पिता जी का वचन असत्य नहीं होना चाहिये, यह विचार कर यमराज के यहां जाने का निश्चय कर लिया। इसी का नाम पितृभक्ति है, तथा यही त्याग है ऐसे पितृभक्त एवं त्यागी धन्य हैं।

उधर महर्षि उद्दालक भी बैठे पछता रहे थे, कि मैंने क्रोध में पुत्र को क्या कह दिया, उसी समय नचिकेता जाकर पिता से कहा।

अनुपश्य यथा पूर्वे प्रतिपश्य तथा परे; सस्यमिव मर्त्यः पच्यते सस्यमिव जायते पुनः।

अपने पूर्व पुरुषों के व्यवहार का विचार करिये, तथा वर्तमान कालिक सत्पुरुषों के कर्तव्य की भी आलोचना कीजिये, उनमें किसी का भी आचरण अपने वचन को मिथ्या करने का नहीं था और न इस समय ही किसी का है। अपने आचरण-कथन को मिथ्या करके कोई अजर अमर नहीं हो सकता है। मनुष्य खेती की तरह जीर्ण होकर मर जाता है, तथा मरकर खेती के समान पुनः उत्पन्न हो जाता है। इस प्रकार अनित्य जीव लोक में असत्य, आचरण से क्या लाभ है—'समूलो वा एष परिशुष्यति यो अनृतमभि-वदति' ।प्र० ६।१। जो मनुष्य मिथ्या भाषण करता है वह समूल नष्ट हो जाता है। और भी—

'न ह्यसत्यात् परोऽधर्मं इति होवाच भूरियम्।
सर्वं सोढुमलं मन्ये ऋतेऽलीकपरं नरम्॥ भा० २।२-४

यह पृथ्वी स्पष्ट रूप से कहती है कि असत्य से बढ़कर कोई पाप नहीं है, मेरु आदि समस्त पर्वतों का भार ढोने में मैं समर्थ हूं, किन्तु झूठे मनुष्य का भार मैं सहन करने में समर्थ हूं। अतः आप अपने सत्य का पालन कीजिये मुझे यमराज के घर भेजिये।

पिताको बडा कष्ट हुआ किन्तु पुत्र के सत्य परायणता को देख कर मृत्युके घर जाने की आज्ञा दे दी, और नचिकेता यमराज के घर पहुंच गया।

आश्चर्यजनक अतिथि—

यमराज के घर पहुंचकर विना अन्न एवं जल के तीन रात्रि तक टिका रहा, क्यों कि यमराज उस समय बाहर गये थे। प्रवास से लौटने पर यमराज की पत्नी अथवा मन्त्रियों ने कहा—

वैश्वानरः प्रविशत्यतिथिर्ब्राह्मणो गृहान् ।
तस्यैतां शान्तिं कुर्वन्ति हर वैवस्वतोदकम् ।।

ब्राह्मण अतिथि के रूप में साक्षात् वैश्वानर अग्नि ही घर में प्रवेश करता है, साधु गृहस्थजन उस अतिथि रूप अग्नि को अर्घ पाद्य आदि देकर शान्ति किया करते हैं। अतः हे वैवस्वत नचिकेता को पाद्य देने के लिये जल ले जाइये। क्यों कि ऐसा न करने से प्रत्यवाय सुना जाता है। अतिथि तीन दिनों से आपके दर्शन करने के लिये अनशन किये बैठा है, अतः आप स्वयं जाकर उससे शान्त करें।

आशाप्रतीक्षे संगतं सूनृतां च
इष्टापूर्ते पुत्रपशूंश्च सर्वान् ।
एतत् वृक्त पुरूषस्याल्पमेधसो
यस्यानश्नन्वसति ब्राह्मणो गृहे ।।

जिस घर में ब्राह्मण अतिथि बिना भोजन किये रहता है, उस मन्द बुद्धि व्यक्ति की ज्ञात एवं अज्ञात वस्तुओंकी प्राप्ति की इच्छायें, तथा उनके संयोग से प्राप्त होने वाले फल, सुनृता-प्रियवाणी और उससे होनेवाले फल, इष्टापूर्त (इष्ट यागादि पूर्त-उद्यानादि) कर्मों के फल और समस्त पुत्र, पशु आदिकों को नष्ट कर देता है। इस बात को सुन कर यमराज जल से भरा हुआ स्वर्ण कलश लेकर शीघ्रता पूर्वक आकर नाचिकेता को पाद्य अर्घ्य देकर आदर पूर्वक बोले।

तिस्त्रो रात्रीर्यदवात्सी गृहे मे,
अनश्नन्ब्रह्मन्नतिथिर्नमस्यः ।
नमस्तेऽस्तु ब्रह्मन्स्वस्ति मेऽस्तु
तस्मा प्रति त्रीन् वरान् वृणीष्व ।।

हे ब्रह्मन् आपको नमस्कार हो, मेरा कल्याण हो, नमस्कार करने योग्य अतिथि हो कर भी मेरे घर में तीन रात्रि तक बिना भोजन किये पड़े

रहे, अतः इस दोष निवृति के लिये एक-एक रात्रि के वदले एक एक करके तीन वरदान अपने अभीष्ट पदार्थ माँग लो।

यमराज के द्वारपर तीन दिन तक अतिथि भूखा पड़ा रहे यह कितना बडा अपराध है? भारत में अतिथि सेवा गृहस्थ का परम आवश्यक कर्म माना जाता है, धर्म-शास्त्रों में अतिथि को साक्षात् नारायण समझ कर उसकी सेवा करने का विधान है।

गृहेषु यस्यातिथयो नार्चिताः सलिलैरपि।
यदि निर्यान्ति ते नूनं फेरुराजगृहोपमाः ।। भा।८।१६।७

जिन घरोंमें आये हुये अतिथि का जल से भी सत्कार नहीं किया जाता, और वह ऐसे ही लौट जाता है तो वह गृह फेरूराज (शृगालराज) वासस्थान के समान हो जाता हैं।

यत्पूजया कामदुघान्याति लोकान् गृहान्वितः।
ब्राह्मणोऽग्निश्च वै विष्णो सर्वदेवात्मनोमुखम् ।। भा ८।१६।७के

जिस गृहस्थके गृहमें सर्व देवमय भगवान के मुख स्वरूप ब्राह्मण और अग्नि का नित्य पूजन होता है, उसी गृहस्थ को सभी कामनाओं के पूर्ण करने वालें लोक की प्राप्ति होती है।

भारत में घर घर में अतिथि नारायण की वडी आदर पूर्वक सेवा होती थी। यमराज का यह दृष्टान्त वड़ा ही महत्व पूर्ण है। जैसे जैसे भारत के गृहस्थ अतिथि सेवा व्रत के बन्धन को ढीला करते जा रहे हैं वैसे वैसे केवल अपने ही अन्न वस्त्रादि विलास साग्मग्रियों के प्रवन्ध करने में ही कर्तव्य की इतिश्री मानने लगे हैं। इतना ही नहीं जव से अतिथि नारायण के लिये गृहस्थ का घर बन्द होने लगा, तभी से देश में हीनता और दरिद्रता का रोग प्रवेश करने लगा हैं।

यमराज की बात सुनकर अत्यन्त प्रसन्न मन से नचिकेता ने यह विचार किया कि पिता को सुख पहुंचाना पुत्र का सर्वोत्तम कर्म है अतः

यमराज से प्रथम वरदान में मांगा कि—

शान्तसंकल्पः सुमना यथास्याद्वीतमन्युः गोतमो माभि मृत्यो ।
त्वत्प्रसृष्टं माभिवदेत प्रतीत एतत् त्रयाणां प्रथमं वरं वृणे ॥

हे मृत्यो ! मेरे पिता मेरे प्रति शान्त संकल्प, प्रसन्न चित्त और क्रोध रहित हो जायें, तथा आपके भेजने पर मुझे पहचान कर बातचीत करें, तीन वरो में मैं पहला वर यही माँगता हूं ।

यमराज ने 'तथास्तु' कह कर कहा-मेरे द्वारा लौटाये जानेपर तुम्हारे पिता पहले के समान ही पहचान कर सब व्यवहार करेगें, एवं सुखी होगें, और क्रोध शान्त हो जायेगा ।

नचिकेता इस प्रकार पिता की शुभ कामना पूर्ण होनेपर समस्त मनुष्यों की मंगल कामना से स्वर्ग प्राप्ति के साधन अग्नि विद्या जानने के लिये यमराज से कहा —हे मृत्यो ! स्वर्ग लोक में कुछ भी भय नहीं है, वहां आप भी सहसा प्रवृत नहीं होते, वहां वृद्धावस्था भी नहीं होती, स्वर्ग में भूख प्यास भी नहीं होता, शोकरहित जीव सुखी रहते हैं ।

हे मृत्यो ! आप स्वर्ग के साधन भूत अग्नि को जानते हैं, उसका मुझ श्रद्धालुके प्रति वर्णन कीजिये, जिस अग्निके चयन से यजमान अमृतत्व देवभाव को प्राप्त हो जाते हैं, इस अग्नि विज्ञान को मैं दूसरे वरके द्वारा माँगता हूं ।

अनधिकारी को विद्या देने से दाता और गृहीता दोनों में किसी का भी कल्याण नहीं होता बल्कि दोनों का अनिष्ट होता है । किन्तु नचिकेता को उत्तम अधिकारी और जिज्ञासु जानकर अग्नि विद्या का महत्व वर्णन करते हुये यमराज बोले—

प्रेत ब्रवीमि तदु मे निबोध
स्वर्ग्यमग्निं नचिकेतः प्रजानन् ।
अनन्तलोकाप्तिमथो प्रतीष्ठां ।
विद्धि त्वमेतं निहितं गुहायाम् ॥

हे नचिकेतः ! उस स्वर्गप्रद अग्नि को अच्छी तरह जानने वाला विशेषज्ञ मैं तुमको उपदेश करता हूं, तू इस अग्निविद्या को ठीक ठीक समझ लो, जो अनन्त लोक की प्रतिष्ठा करानेवाला, तथा विराट् रूप जगत् की प्रतिष्ठा है। उस अग्नि को विद्वान् पुरुषों की बुद्धिरूपी गुहा में स्थित समझो।

इसके बाद महात्मा यमराज ने नचिकेता से लोको के आदिकारण उस अग्नि का तथा उसके चयन करने में जैसी और जितनी ईंटे चाहिये एवं जिस प्रकार उसका चयन किया जाता हैं उन सबको नचिकेता के प्रति वर्णन कर दिया। अर्थात् यज्ञ स्थान के निर्माण के आवश्यक सामग्रियों और अग्नि चयन करने की विधि बतलाया। और कुशाग्र बुद्धि नचिकेता ने भी जैसा यमराज ने कहा था वह सब ज्यों का त्यों दुहरा कर सुना दिया। इसमें नचिकेता की तीक्ष्ण बुद्धि का ज्ञान भी यमराज को हो गया।

बालक की अलौकिक योग्यता देखकर यमराज अत्यन्त प्रसन्न होकर तीन वरों के अतिरिक्त एक और चौथा वरदान दिया।

तवैव नाम्ना भवितायमग्निः

सृङ्कां चेमामनेकरूपां गृहाण ॥

मैंने जिस अग्नि चयन की विधि बतलाई वह अग्नि आज से तुम्हारे ही नाम से प्रसिद्ध होगी। और शब्द करनेवाली रत्नमयी विचित्र वर्णा, इस माला को भी स्वीकार करो। तात्पर्य यह की अग्नि विद्या के अतिरिक्त अनेक फल का कारण और भी कर्म विज्ञान का उपदेश किया। यमराज के वरदान से नचिकेता का मुख मण्डल प्रसन्नता से भर गया।

यमराज पुनः बोले—माता पिता और आचार्य के उपदेश सें तीन बार नचिकेता अग्नि का चयन कर यज्ञ दान और वेदाध्ययन करने वाला मनुष्य जन्म एवं मृत्यु को पार कर जाता है, तथा ब्रह्म से उत्पन्न हुये ज्ञानवान और स्तुति करने योग्य देव को जानकर अत्यन्त शान्त हो जाता है।

स्वर्ग के साधनभूत अग्नि विद्या का उपदेश देकर यमराज ने कहा—हे नचिकेता तुम तीसरा वरदान और मांग लो—

नचिकेता विचार करता है कि क्या स्वर्ग सुख से ही मनुष्य का परम कल्याण हो सकता है ? नहि क्योंकि पुण्य क्षय होनेपर तो पुण्यात्माओं को पुनः संसार में आना पड़ता है, 'क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोके विशन्ति'--अतः तीसरे वरदान से आत्म-तत्व को जानना चाहिये, जिसके जानने से कुछ जानना शेष नहीं रह जाता, यह विचार कर बोला—

येयं प्रेते विकित्सा मनुष्ये—
ऽस्तीत्येके नायमस्तीति चैके ।
एतद्विद्यामनुशिष्टस्त्वयाहं
वराणामेष वरस्तृतीयः ।

मरे हुये मनुष्यों के विषय में इस प्रकार का सन्देह है कि कोई लोग कहते हैं कि शरीर इन्दिय, मन और बुद्धि के अतिरिक्त देहान्तर से सम्बन्ध रखने वाला आत्मा रहता है, और किन्हीं का कहना है कि ऐसा कोई आत्मा नहीं रहता, अतः इस विषय में प्रत्यक्ष या अनुमान से कोई निश्चित ज्ञान नहीं होता, और परम पुरुषार्थ इसी ज्ञान के आधीन है, इसलिये आप से शिक्षित होकर मैं इसको जान सकूं मेरे वरों में यह तीसरा वर है ।

नचिकेता के महत्वपूर्ण प्रश्न को सुनकर यमराज ने सोचा—यह ब्राह्मण बालक होने पर भी बड़ा ही बुद्धिमान है, अत्यन्त गोपनीय तत्व को जानना चाहता है, अतः आत्मा तत्व का अधिकारी है कि नहीं इस बात को जानने के लिये प्रश्न को टाल-मटूल करते हुये बोले—

पूर्व काल में देवताओं को भी इस विषय में सन्देह हुआ था, क्योंकि यह सूक्ष्म वस्तु सुगमता से जानने योग्य नहीं है, अन्य वरदान मांगो, इसको मेरे लिये छोड़ दो ।

नचिकेता बोला—हे मृत्युदेव ! हमने अभी आपसे ही सुनी है कि इस विषय में देवताओं को भी सन्देह हुआ था, तथा इसे आप भी सुगमता से

जानने योग्य नहीं बतलाते, इस आत्मतत्व का वक्ता भी आपके समान अन्य कोई नहीं मिल सकता, और इसके समान दूसरा वर भी नहीं है, क्योंकि और सभी वर अनित्य है ।

नचिकेता के इस प्रकार कहने पर भी मृत्यु उसे प्रलोभन देते हुये बोले—

शतायुषः पुत्रपौत्रान् वृणीष्व,
बहून् पशुन् हस्तिहिरण्यमश्वान् ।
भूमेर्महदायतनं वृणीष्व
स्वयं च जीव शरदो यावदिच्छसि ॥

हे नचिकेतः ! तू सौ वर्ष की आयुवाले पुत्र, पौत्र बहुत से पशु, हस्ति, सुवर्ण और घोड़े मांग लो, विशाल भूमण्डल का राज्य ले लो, तथा स्वयं भी जितने वर्ष इच्छा हो जीवित रहो, इसके समान यदि कोई वर समझते हो तो उसे अथवा धन चिरस्थायिनी जीविका मांग लो, मैं तुझे इच्छानुसार कामनाओंके भोगने वाला बना देता हूं।

मनुष्य लोक में जो जो दुर्लभ है उन सब भोगों को तुम स्वच्छन्दतापूर्वक मांग लो, यहां रथ और वाद्यों सहित ये रमणियां है, ऐसी स्त्रियां मनुष्यों को प्राप्त होने योग्य नहीं होती । मेरे द्वारा दी हुई इन सब कामिनियों से अपनी परिचर्या कराओ । किन्तु हे नचिकेतः ! काकके दांत की परीक्षा के समान मरण सम्बन्धी वर मत मांगो ।

इस भूमण्डल में विरला ही कोई ऐसा मनुष्य है जो अनायास स्वर्ग एवं भूभण्डल का समस्त भोग समाग्री और दीर्घ कालतक भोगने का सामर्थ्य प्राप्त होने पर त्याग दे । किन्तु विवेक और परम वैराग्य सम्पन्न नचिकेता अपने लक्ष्य पर पर्वत के समान अचल बना रहा । गोस्वामी तुलसी दासजी ने ठीक ही कहा है कि—

"रमा विलास राम अनुरागी, तजत वमन इव नर बड़ भागी" ।

अनेक प्रकार प्रलोभित किये जाने पर भी नचिकेता समुद्र के समान अक्षुब्ध रहकर कहा—

स्वोभावा मर्त्यस्य यदन्तकैतत्सर्वेन्द्रियाणां जरयन्ति तेजः ।
अपि सर्वं जीवितमल्पमेव तवैव वाहास्तव नृत्तगीते ।

हे मृत्यु देव ! आपने जिन जिन भोगों का वर्णन किया है, वे कलतक रहेंगें या नही इसमें भी सन्देह है, और ये अप्सरायें आदि भोग तो मनुष्य के सम्पूर्ण इन्द्रियों के तेज को जीर्ण शीर्ण कर देती है। अतः ये भोग धर्म,वीर्य, प्रज्ञा तेज और यश आदि का क्षय करने वाले होने से अनर्थ के कारण है। दीर्घ जीवन देने की बात कही, वह भी बहुत थोड़ा ही है, जब ब्रह्मा का जीवन भी अल्प ही है, तब हम लोगों के दीर्घ जीवन की बात ही क्या है, अतः आपके वाहन और नाच गान आपके पास ही रहे। इसके सिवा मनुष्य को धनसे तृप्त नहीं किया जा सकता है। अब यदि आपका दर्शन हो गया, तो हम धन तो पा ही लेंगे। जब तक आप शासन करेगें तबतक हम जीवित रहेगें हो, किन्तु हमारा प्रार्थनीय वर तो वही है।

भला जरा ग्रस्त न होने वाले अमर देवताओं के समीप पहुच कर नीचे पृथ्वी पर रहने वाला कौन जरा मरण शील विवेकी मनुष्य होगा, जो अस्थिर परिणाम में दुःख देने वाले स्त्री संभोग आदि विषयों का चाहेगा। तथा शरीर के सौंदर्य और विषय के प्रभावों को अनित्य क्षण भंगुर जानकर भी कौन समझदार दीर्घजीवन से आनन्द मानेगा। अतः हे मृत्यो ! मिथ्या भोगो से प्रलोभित करना छोड़कर जिसके लिये मैंने प्रार्थना की है—

यस्मिन्नदं विचिकित्सन्ति मृत्यो,
यत्सम्पराये महति ब्रूहि नस्तत्।
योऽयं वरो गूढमनुप्रविष्टो
नान्यं तस्मान्नचिकेता वृणीते ॥

जिसके विषय में लोग संशय करते हैं, तथा जो महान परलोक विषय में निर्णयात्मक अत्मतत्व विज्ञान है, एवं गहन और दुर्विवेचनीय हैं, उस वर से अन्य जो अविवेकी पुरुषों द्वारा प्रार्थनीय अनित्य वर है, उसको नचिकेता मन से भी नही मांगता।

नचिकेता परीक्षा में प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण हो गया, यमराजने नचिकेता को आत्मज्ञान का पूर्ण अधिकारी समझा ! यथार्थ में मायामय संसार के समस्त सुखों को धन के प्रलोभन, रमणियों की रमणीयता, कमनीयकीर्ति की कामना आदि पदार्थों का अत्म-ज्ञानकी दृष्टि से तुच्छ समझता है, एवं जो इस लोक के स्रक, चन्दन, वनितादि भोगों के समान परलोक के भोगों को भी तुच्छ जहर मिश्रित लड्डू समझ कर त्याग देता है, वही आत्मज्ञान का वास्तविक अधिकारी माना जाता है।

इस प्रकार शिष्य की परीक्षा कर उसमे विद्याग्रहण की योग्यता जानकर यमराज बोले—

अन्यच्छ्रेयो ऽन्यदुतैव प्रेयस्ते उभे नानार्थे पुरुषं सिनीत :।
तयो:श्रेय आददानस्य साधु भवति
हीयते अर्थाद्य उ प्रेयो वृणीते ॥

हे नचिकेता ! श्रेय और है, तथा प्रेय और ही है, ये दोनों भिन्न भिन्न प्रयोजन वाले होते हैं, ये पुरुष को अपने में बांध लेते हैं। उन दोनों में जो श्रेय को ग्रहण करते हैं वे परम कल्याण प्राप्त करते हैं, और जो प्रेय को स्वीकार करता है, वह अपने परम पुरुषार्थ से गिर जाता है।

यह श्रेय और प्रेय दोनों ही मनुष्य के अधीन है, मनुष्य चाहे जिसको स्वीकार कर सकता है। स्वाधीन होने पर भी लोग अधिकता से प्रेय ही क्यों ग्रहण करते हैं ? इसका उत्तर यह है कि श्रेय और प्रेय परस्पर मिले जुले हुये से प्रतीत होते है। उन दोनों में बुद्धिमान मनुष्य होने के गुण और दोष भली भांति विचार कर अलग अलग करता है, नीर क्षीर विवेकी हंस के समान बुद्धिमान मनुष्य तो श्रेय प्रेय दोनों में से प्रेय को त्यागकर श्रेय को ही ग्रहण करता है, किन्तु मूढ अविवेकी मन्द बुद्धि प्रेय को ही योग क्षेम के लिये ग्रहण करता है, अर्थात् प्राप्त स्त्री पुत्र धनादि की रक्षा और अप्राप्त भोगो के लिये प्रेय को ही ग्रहण करता है।

हे नचिकेतः। तू ने प्रिय पुत्र वित्तादि और अप्सरा आदि भोगों को असार चिन्तन कर के त्याग दिया है। जिसमें बहुत से मनुष्य डूब जाते है,

अतः द्रव्यमयी निकृष्ट गति को तुम नहीं प्राप्त होगे ।

उपर्युक्त विशेष कथन से यमराज ने नचिकेता के विवेक और विराग की प्रशंसाकर धनमय संसार की निन्दा की, और विवेक वैराग्य युक्त ही मनुष्य आत्म ज्ञान का अधिकारी होता है, कहकर अधिकारी का लक्षण भी बताया ।

ऊपर कहा गया कि श्रेय को ग्रहण करने वाले का कल्याण (मोक्ष) होता है, और जो प्रेय को वरण करता है वह स्वार्थ से गिर जाता है, ऐसा क्यों ? इसका उत्तर देते हुये यमराज कहते हैं ।

दूरमेते विपरीते विषूची, अविद्या या च विद्येति ज्ञाता ।
विद्यांकीप्सितं नचिकेतसमन्येन त्वकामा वहवो लोलुपन्तः ॥

विद्या और अविद्या दोनों अत्यन्त विरुद्ध स्वभाव वाली एवं विपरीत फल देने वाली हैं, विद्या (विवेक) संसार जीव को मुक्त कर देती है, और अविद्या (अविवेक) प्राणी को नाना योनियों में ही प्राप्त करा देती है । मैं तुझ नचिकेता को विद्याभिलाषी मानता हूं, क्योंकि बहुत से भोग भी तुम्हें नहीं लुभा सके । किन्तु जो जन्म मरण रूप संसार के पात्र हैं—

अविद्यायामन्तरे वर्तमाना
स्वयं धीरा पण्डितं मन्यमानाः ।
दन्द्र व्यमाणाः परियन्ति मूढ़ाः
अन्धेन नीयमाना यथान्धाः ॥

वे घने अन्धकार के समान अविद्या के भीतर स्थित हो पुत्र पशु आदि सैकड़ों तृष्णा पाशों से बन्धे हुये रह कर भी आपने को बड़े बुद्धिमान और पण्डित मानते हैं, वे भोगों की इच्छा करने वाले मूढ पुरुष अन्धों के सहारे चलने वाले अन्धों की तरह अनेकों कुटिल गतियों की इच्छा करते हुये चारो ओर ठोकरें खाते भटकते रहते हैं ।

आज कल संसार में ऐसे अनेक मनुष्य अपने को तत्वज्ञानी माने बैठे हैं।

बाहर से तो तत्वज्ञान की बाते करते हैं, किन्तु उनके भीतर देखा जाय तो कामनाओं के ताण्डव होते दिखाई पड़ते है।

ह्मज्ञानवनु नारि नर, करहिंन दूसरि बात ।
कौडीलगि मोह-बश करहि विप्र गुरु घात ॥

यमराज कहते हैं किऐसे मिथ्या ज्ञानियों के लिये मोक्ष का द्वार वन्द है वे बारबार "पुनरपि जननं पुनरपि मरणं पुनरपि जननीजठरे शयनम् ।' जन्म मरण रूप चक्की से पीसे जाते हैं। ऐसा क्यों होता हैं ? इसका उतर यमराज स्वयं देते हैं।

न साम्परायः प्रतिभाति बालं
प्रमाद्यन्तं वित्तमोहेन मूढम् ।
अयं लोको नास्ति पर इति मानी,
पुनः पुनर्वशमापद्यते मे ॥

वन के मोह में अन्धा और प्रमाद करने वाले उस मूढ को परलोक का साधन नहीं सूझता है, वह कहता है कि स्त्रां पुत्रादि भोगों से युक्त यही लोक है, परलोक नहीं है, ऐसा मानने वाला मनुष्य बारम्बार मेरे वशनें प्राप्त होते हैं।

यमराज कहते हैं हे नचिकेतः आत्मज्ञान वड़ा दुर्लभ है, तुम्हारे समान श्रेय की इच्छा वाले हजारों में कोई ही आत्मज्ञानी होता है, क्योंकि—

श्रवणायापि बहुभियों न लभ्यः
शृवतो बहवो यं विद्युः ।

बहुतों को तो आत्मज्ञान सुनने को भी नहीं मिलता, एवं बहुत लोग सुनकर भी नहीं समझते, आत्मतत्व का निरूपण करनेवाला भी कोई विशेषज्ञ पुरुष ही होता है। और कुशल आचार्य के द्वारा शिक्षा प्राप्त आत्मा का जानने वाला कोई विरला ही होता है। क्योंकि—

न नरेणावरेण प्रोक्त एष, सुविज्ञेयो बहुधा चिन्त्यमान्ः ।
अनन्यप्रोक्तो गतिरत्र नास्ति, अणीयान्ह य तर्कमनुप्रमाणात् ।।

यह आत्मतत्व किसी साधारण बुद्धि वाले मनुष्य से कहे जाने पर अच्छी तरह नहीं जाना जा सकता, क्योंकि वादियों के द्वारा अस्ति, नास्ति, कर्ता, अकर्ता, शुद्ध और अशुद्ध आदि अनेक प्रकार से चिन्तन किया गया है। अतः अनन्य प्रोक्त अभेददर्शी अपृथग्दर्शी आचार्य के द्वारा कहे हुए उपर्युक्त अस्ति नास्ति आदि समस्त विकल्प रहित आत्मा का ज्ञान होता है, तर्क से ज्ञान प्राप्त नहीं होता, यह ज्ञान तो किसीं अलौकिक ब्रह्मज्ञानी द्वारा ही जाना जाता है। हे नचिकेतः तू बड़ा ही सत्य धारणा वाला है, अतः मुझे ऐसा पुरुष पाया हैं, तुम्हारे जैसा जिज्ञासु प्रश्न करने वाला सदा मुझको मिलता रहे। प्रसन्न होकर मृत्यु ने पुनः नचिकेता से कहा--

जानाम्यहं शेवधिरित्यनित्यं,
न ह्य च ध्रुवैः प्राप्यते हि ध्रुवंतत्,
ततो मया नचिकेतश्चितांऽग्नि—
रनित्यैर्द्रव्यैः प्राप्तवानस्मि नित्यम् ।।

हे नचिकेता ! मैं जानता हूं कि कर्म फलरूपी निधि अनित्य है, और अनित्य साधनों के द्वारा नित्य (आतमा) प्राप्त नहीं होता, यह जानकर भी मैंने स्वर्ग के साधन भूत अनित्य नाचिकेत अग्नि का चयन किया है, उस अनित्य पदार्थ से ही (आपेक्षिक) नित्य याम्य पद को प्राप्त हुआ हूं।

किन्तु हे नचिकतः ! तुम तो बुद्धिमत्ता से भोगो की चरम सीमा जगत् की प्रतिष्ठा, यज्ञफल रूप हिरण्यगर्भ का पद, अभय की मर्यादा, स्तुत्य और महती विस्तीर्ण गति एवं प्रतिष्ठा को हेय समझ कर धैर्य पूर्वक त्याग दिया है, वास्तव में तुम उत्कृष्ट गुण सम्पन्न हो।

जिस आतमा को तुम जानना चाहते हो, वह यद्यपि नित्य स्वप्रकाश रूप है, समस्त प्राणियोंके हृदय में विराजमान है, तथापि अत्यन्त सूक्ष्म होनेसे दुर्दश है, एवं गूढ शब्दादि विषय विकार रूप विज्ञान से युक्त बुद्धिरूपी गुहा में

छिपा हुआ है, तथा रागद्वेषादि अनेक अनार्थों से संकुल स्थान में रहने से भी अत्यन्त दुर्गम है, और पुरातन है, चित्तको विषयोंसे हटाकर एकाग्र मन से उस पुरातन आत्मदेव को जानकर पुरुष हर्ष शोकों को त्याग देता है।

मनुष्य इस आत्मतत्वको तत्वज्ञ आचार्य से सुनकर एवं देहादि संघात से पृथक् कर सम्यक् तथा इस आत्म रूप से जान कर आनन्द में रम जाता है। मेरे विचार से तेरे लिये मोक्ष का द्वारा खुला हुआ है।

यमराज के वचन सुन कर नचिकेता बोला—हे भगवन्! यदि मैं योग्य हूं और आप मुझ पर प्रसन्न हैं तो जो धर्म से अन्य और अधर्म से भी अन्य एवं कार्य कारण रूप प्रपञ्च से पृथक्—भूत, भविष्य और वर्तमान से अन्य एवं समस्त व्यवहारों से जो अतीत वस्तु को आप जानते हैं वह मुझसे कहिये।

इस प्रकार नचिकेता के पूछने पर वस्तु तथा उसके अन्य विशेषण तथा साधन बतलाने की इच्छा से यमराज बोले।

समस्त वेद जिस पदका प्रतिपादन करते है, सारे तपों को जिसकी प्राप्ति मे साधन कहते है, जिसकी प्राप्ति की इच्छा से ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करते हैं, वह पद जिसको तुम जानना चाहते हो, मैं संक्षेप में उसे कहता हूं 'ओं' यही वह पद है, और शब्द का वाक्य और 'ओंम्' शब्द ही जिसका प्रतीक हैं, वही वह पद है।

यह अक्षर ही अपर ब्रह्म है, यह अक्षर ही पर ब्रह्म है, यह अक्षर ही अपर और पर दोनों ही का प्रतीक हैं। इस अक्षर को उपास्य ब्रह्म जान कर जिस ब्रह्म की इच्छा करता है; वह उसे ही प्राप्त करता है परब्रह्म जाना जाता है और अपर ब्रह्म प्राप्त किया जाता है।

यह अक्षर ब्रह्म प्राप्ति का सर्व श्रेष्ठ आलम्ब न है। इस आलम्बन को जानकर साधक ब्रह्मलोक में महिमान्वित होता है। तथा अपरब्रह्म में ब्रह्मत्व प्राप्त कर ब्रह्म के समान उपासनीय होता है।

नचिकेता से पूछे गये सर्व विशेष रहित आत्मा तथा मन्द मध्यम

अधिकारी के लिये अपर ब्रह्म के प्रतीक और आलम्बन कह कर, जिसका आलम्बन के प्रणव आत्मा के स्वरूप बतलाने की इच्छा से यमराज बोले—

न जायते म्रियते वा विपश्चिन्न ायं कुतश्चिन्न बभूव कश्चित्
अजो नित्यः शास्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥

अविपरिलुप्त चैतन्य कभी नाश नहीं होने वाला चैतन्य स्वरूप विपश्चित मेधावी आत्मा न उत्पन्न होता है, न मरता है, न किसी अन्य कारण से ही उत्पन्न होता है, न स्वतः ही कुछ अर्थान्तर बना है, यह अजन्मा, नित्य, शाश्वत और पुरातन है। शरीर के मारे जाने पर भी आत्मा नहीं मरता है। मारना तथा मरना आदि व्यवहार देह में होता है, किन्तु अज्ञान से आत्मा में आरोप किया जाता है। यहां जन्म मरण कह कर सब प्रकार के विकारों का भी प्रतिषेध किया गया है ऐसा जानना चाहिए। क्यों कि जन्म होने पर ही घटना-बढ़ना आदि विकार होते हैं, जिसका जन्म ही नहीं उसमें विकार कैसे हो सकते हैं।

देह में रहकर भी आत्मा आकाश के समान निर्लिप्त है।

हन्ता चेन्मन्यते हन्तुं हतश्चेन्मन्यते हतम्।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते ॥

उपर्युक्त आत्मा के विषय में कोई यह सोचता है कि मैं इसे मारूंगा, तथा दूसरा मारा जाने वाला भी यह समझता है कि मैं मारा गया हूं, तो वे दोनों अपने आत्मा को नहीं जानते, क्योंकि आत्मा अविकारी है, इसलिए वह मार नहीं सकता और आकाश के समान अविकारी होने से मारा भी नहीं जा सकता।

मुमुक्षु आत्मा को कैसा जाने इस पर कहते हैं—

आणोरणीयान्महतो महीयानात्मास्य जन्तोर्निहतो गुहायाम्।

यह आत्मा सूक्ष्म से भी सूक्ष्मतर है; महान से भी महत्तर है, यह आत्मा जीव की हृदय रूप गुहा में स्थित है। संसार में जो कुछ वस्तु है, वह नित्य

आत्मा से ही आत्मवान् है। देखना, सुनना, मनन और जानना आदि जिसके लिङ्ग है। दृष्ट और अदृष्ट समस्त बाह्य विषयों से उपरत बुद्धिवाला निष्कामी पुरुष इन्द्रियों के प्रसाद से आत्मा की महिमा को देखता है। क्योंकि जिस समय दृष्टादृष्ट से बुद्धि उपरत होती है, उसी समये मन आदि सभी इन्द्रियाँ जो कि शरीर धारण करने से धातु कहलाती हैं, वह प्रसन्न होती है, इन धातुओं की प्रसन्नता से कर्म निमित्तक वृद्धि और ह्रास रहित आत्मा के महिमा को जानकर जीव शोक से रहित हो जाता है। जब तक नित्य प्रकाश स्वरूप आत्मा में मन एकाग्र नहीं होता, तब तक आत्मस्वरूप का दर्शन दुर्लभ है।

सकामी साधारण पुरुषों के लिये आत्मा दुर्विज्ञेय है। क्योंकि आत्मा शरीर में रहते हुये भी अशरीरी है, एवं अनित्य शरीरों में नित्य स्वरूप है, तथा महान् व्यापक उस आत्मा को जानकर, विचारवान् पुरुष शोक को तर जाता है।

यद्यपि आत्मा दुर्विज्ञेय है, एक है, और सब में व्यापक है, तथापि उपाय से सुविज्ञेय ही है,

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो, न मेधया, न बहुना श्रुतेन,

यह आत्मा प्रवचन से प्राप्त नहीं होता, न धारण शक्ति एवं न बहुत शास्त्रों के श्रवण से ही मिलता है?

"यमेवैष वृणते तेन लभ्यः तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम्"।

साधक जिस अपने आत्मा की प्रार्थना करता है, उस प्रार्थना करने वाले आत्मा के द्वारा यह आत्मा स्वयं ही प्राप्त किया जाता है, उस आत्म कामी के प्रति यह आत्मा अपने परमार्थिक यथार्थ स्वरूप प्रकाशित कर देताहै।

'अजेनाजं विबुद्धयन्ते' 'स्वयमेवात्मनात्मानं' वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम।

स्वयं अपने ही आप अपने निरतिशय ज्ञान सामर्थ्य और ऐश्वर्य को जानते हैं।

दूसरी बात यह है कि जो श्रुति स्मृति से निषिद्ध पाप कर्मो से विरत नहीं है, एवं शम दमादिके द्वारा जिसकी इन्द्रियाँ शांत नहीं है, तथा जो असमाहित है,

और जिस का चित्त एकाग्र नहीं है, वह इस आत्मा को केवल आत्मज्ञान से प्राप्त नहीं कर सकता।

भाव यह है कि जो पाप कर्म विरत है तथा इन्द्रियों की चञ्चलता दूर कर समाहित चित्त और समाधान के फल से भी जो उपशांत है वह आचार्यवान साधक ही ब्रह्मज्ञान से आत्मा को प्राप्त कर सकता है,

विद्या और अविद्या यह दोनों विरुद्ध धर्म वाली हैं यह बात ऊपर कही गयी है, किन्तु उनका फल ठीक-ठीक नहीं कहा गया है इसका निर्णय करने लिये रथ के रूपक की कल्पना की गयी है। जिससे विद्या और अविद्या समझने में सुगमता हो जाय, एवं प्राप्त करने वाला और प्राप्तव्य वस्तु, तथा गमन करने वाला और गन्तव्य स्थान का बोध कराने के लिये दो आत्माओं का वर्णन किया जाता है।

यहाँ अविद्या का अर्थ उपासना रूप कर्म जानना चाहिये। क्योंकि नाचिकेत अग्नि का फल स्वर्ग कहा गया है। और विद्या का अर्थ ज्ञान एवं इसका फल मोक्ष है, इसी को स्पष्ट करने के लिये रथ का रूपक है।

जो जीव मोक्ष चाहता है, एवं जो संसार में ही आते जाते रहना चाहते हैं, उन दोनों के लिये चलने का साधन रथ रूप शरीर ही है। अतः

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च॥
इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयांस्तेषु गोचरान्।
आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः॥

शरीर को रथ, एवं शरीर का स्वामी आत्मा को रथी जाने, बुद्धि को सारथि एवं मन को लगाम जानो, इन्द्रियों को घोड़ा तथा शब्दादि विषय को घोड़ों के चलने का (सड़क) समझो। विवेकी पुरुष, शरीर, इन्द्रिय एवं मन से युक्त आत्मा को भोक्ता कहते है।

यहाँ यह विशेष जानना आवश्यक है कि केवल शुद्ध आत्मा तो भोक्ता हो नहीं सकता, आत्मा में भोक्तृत्व तो बुद्धि आदि उपाधियों के कारण ही है

यथार्थ में तो आत्मा अभोक्ता ही है। ऐसा होने पर ही रथ के द्वारा वैष्णव पद की आत्मभाव से प्राप्ति बन सकती है, क्योंकि स्वभाव कभी वदल नहीं सकता है।

इन्द्रिय रूपी वलवान घोड़े विषय रूपी मैदान में दौड़ना चाहते हैं, किन्तु लगाम पकड़ने वाला बुद्धिमान सारथी मन घोड़ों को जहां चाहें वहां ले जाता है। यदि बुद्धि रूपी सारथि प्रवृत्ति निवृत्ति मार्ग के विवेक से रहित है, एवं असंयत चित्त है, उसके अधीन इन्द्रियां नहीं रहती, जैसे-ठीक लगाम न रखने वाला अविवेकी वलहीन सारथी के अधीन दुष्ट घोड़े।

किन्तु जो बुद्धिरूपी सारथी विज्ञान वान् कुशल है, प्रवृत्ति निवृत्ति मार्ग का ज्ञाता है एवं समाहित चित्त से मनरूपी लगाम को वलपूर्वक पकड़कर घोड़ों को चलाने में समर्थ है उसकी इन्द्रियां वैसे अधीन होती हैं, जैसे सारथि के अधीन अच्छे शिक्षित घोड़े।

उपर्युक्त दृष्टान्त की तरह जो सारथि अविज्ञानवान अमनस्क असंयचित्त है, एवं सदा अपवित्र है, उस सारथि के द्वारा रथी जीव अक्षर परमपद को प्राप्त नहीं कर सकता, वह तो जन्म मरण रूप संसार को ही प्राप्त होता है।

इसके विपरीत जो विज्ञानवान है, संयत चित्त और सदा पवित्र रहने वाला सारथि है, वह रथी है जीव को प्राप्त करा देता है जहां वह जाकर फिर उत्पन्न नहीं होता। तात्पर्य यह कि जो मनुष्य विवेक युक्त बुद्धि से मन को रोक कर इन्द्रियों को अपने आधीन कर लेता है, वह संसार सागर से पार होकर विष्णु पद को प्राप्त कर लेता है और फिर लौट कर नहीं आता।

वह विष्णु पद क्या है, इसको वतलाने के लिये स्थूल इन्द्रियों से आरम्भ कर सूक्ष्मत्व के तारतम्य के क्रम से वर्णन करते हैं—

इन्द्रियभ्यो परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धि बुद्धेरात्मा महान्परः॥
महतः परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः परः।
पुरुषान्न परं किञ्चित्सा काष्ठा सा परा गतिः॥

इन्द्रियों से विषय श्रेष्ठ है, विषयों से मन श्रेष्ठ है, मन से वुद्धि श्रेष्ठ हैं, यहां वुद्धि से व्यष्टि वुद्धि ग्रहण करना चाहिए, इस व्यष्टि वुद्धि से महत् शब्द वाच्य समष्टि वुद्धि श्रेष्ठ है, जो सवसे प्रथम उत्पन्न होने वाला हिरण्यगर्भ है, उस महत् से अव्यक्त श्रेष्ठ है, जो क्रियाशक्ति और ज्ञान शक्ति सम्पन्न है एवं वोधावोधात्मक है, वह महान् अव्यक्तात्मा वुद्धि से परे है, जो सम्पूर्ण जगत् का वीज हैं, एवं नाम रूपों का सत्ता स्वरूप है, सम्पूर्ण कार्य का संघात है। तथा अव्यक्त, अव्याकृत और आकाशादि नामों से कहा जाता है, वट के वीज में रहने वाली वट वृक्ष की शक्ति के समान परमात्मा में ओत-प्रोत भाव से आश्रित है, उस अव्यक्त से प्रत्यगात्मरूप पर सूक्ष्मतर होने से पुरुष श्रेष्ठ है, सवसे पूर्ण होने से पुरुष कहलाता है, उससे पर श्रेष्ठ कुछ नहीं है, इसलिए वही परा-काष्ठा एवं परा गति है, उसी का नाम परम-पद या विष्णु-पद हैं।

इन्द्रियों से आरम्भ कर सूक्ष्मता का तारतम्य आत्मा में समाप्त होता हैं। अतः वही गमन करने वाले संसारी जीवों की पर उत्कृष्ट गति है, 'यद्-गत्वा न निवर्तन्ते' जिसको प्राप्त कर फिर ससार में नहीं लौटते।

सव भूतों में छिपा हुआ, दर्शन, श्रावण, मनन आदि कर्म कराने वाला, सवका अन्तरात्मा होता हुआ भी अविद्या से आच्छादित होने से आत्म रूप से सवको प्रकाशित नहीं होता। अहो! यह माया वड़ी गम्भीर दुर्गम और विचित्र है, संसार के सभी जीव वस्तुतः परमार्थ सत् रूप ही है। और वार-वार ऐसा वोध कराने पर भी अपने को नहीं जानता।

उस आत्मा को साक्षात् करने के लिए माता के सामान स्वयं श्रुति जीवों को उद्बोधन करती है —

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत।

अरे अनादि अविद्या में सोये जीवों? उठो, अज्ञान निद्रा से जागो, उत्कृष्ट आत्मज्ञानी आचार्यों के समीप जाकर, उनके उपदेश से सर्वान्तर्यामी आत्मा को 'मैं आत्मा हूं ऐसा जानो, उसकी उपेक्षा मत करो।

मरने के बाद जीव की गति—

यमराज कहते हैं, हे गौतम ! मैं पुनः उस गुह्य सनातन ब्रह्म का वर्णन करूंगा, तथा ब्रह्म को न जानने से मरने के बाद जीव को जो गति होती है, वह भी बतलाऊंगा—

योनिमन्ये प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय देहिनः ।
स्थाणुमन्येऽनुसंयन्ति यथा कर्म तथा श्रुतम् ॥

कोई जीव अपने कर्म और ज्ञान के अनुसार शरीर धारण करने के लिये किसी योनि को प्राप्त करता है, और कोई स्थावर भाव को प्राप्त हो जाता है ।

अज्ञानी जीवों की गति बतलाकर यमराज पुनः प्रतिज्ञात ब्रह्म का वर्णन करते हैं—

य एष सुप्तेषु जागर्ति कामं कामं पुरुषो निर्मिमाः ।
तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते ॥

प्राणादि सभी इन्द्रियों के सो जाने पर जो जागता है । एवं अविद्या के योग से अपने इच्छित पदार्थों की रचना कर लेता है, वही शुद्ध है, वही ब्रह्म है, वही अमृत है, उसी में सम्पूर्ण लोक आश्रित है, कोई भी उसका उल्लंघन नहीं कर सकता है, वही ब्रह्म है ।

तार्किकों द्वारा चंचल बुद्धि में, प्रमाण और युक्ति से सिद्ध होने पर भी आत्मैकत्व विज्ञान स्थिर नहीं होता ।

"अनेकतार्किककुबुद्धिविचालितान्तःकरणानां प्रमाणोपपन्नमप्यात्मैकत्व-विज्ञानं असकृदुच्यमानमप्यनृजुबुद्धीनां चेतसि नाधीयत" । शां । अतः ब्रह्म के प्रतिपादन करने में आदर रखने वाली श्रुति बार बार कहती है ।

जैसे प्रकाश रूप अग्नि एक होने पर भी भिन्न भिन्न काष्ठादि पदार्थों के अनुसार भिन्न भिन्न रूप में प्रतीत होती है, वैसे ही समस्त भूतों में एक ही

अन्तरात्मा उपाधि के अनुरूप होकर भिन्न भिन्न रूप मं प्रतीत होता है।

जैसे वायु एक होने पर भी लोक में प्रत्येक रूप में प्रविष्ट होकर तदनुरूप भिन्न भिन्न रूप में अनुभूत होता है, वैसे ही एक ही आत्मा प्रत्येक रूप के अनुरूप हो रहा है, एवं उनके वाहर भी है।

यहाँ यह प्रश्न होता है कि जव सवमें एक ही आत्मा है, तव एक के सुख दुःख में सवको सुखी दुःखी होना चाहिये, तथा संसारी जीवों के सुख दुःख सिद्ध होगा ? इसका उत्तर श्रुति देती है—

सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षुर्न लिप्यते चाक्षुषैर्वाह्यदोषैः
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा न लिप्यते लोकदुःखेन वाह्यः ॥

जैसे सूर्य सम्पूर्ण लोको के नेत्र होकर भी नेत्र सम्वन्धि वाह्य दोषों से लिप्त नहीं होता, वैसे ही समस्त भूतों में एक ही अन्तरात्मा संसार के दुःखों से लिप्त नहीं होता, क्योंकि वह वाहर है—

समस्त प्राणियों में भीतर वाहर आत्मा एक है, सवको अपने वश में करने वाला है, अपने एक रूप को ही वहुत वना लेता है, अपने अन्तःकरण में स्थित उस आत्म देव को जो धीर देखता है उसी को नित्य शाश्वत सुख प्राप्त होता है, दूसरे को नहीं।

अनित्य शरीरों में भी आत्मा नित्य है, अन्यों को चेतन करने वाले व्रह्मादिदेवों का भी चेतन है, एक होकर भी अनेकों के कामनायें पूर्ण करता है, अपने आत्मा में उस आत्मा को जो देखता है, वही विवेकी नित्य शान्ति प्राप्त करता है, अन्य नहीं।

आत्म विज्ञान रूप सुख अनिर्देश्य(कहने के अयोग्य) है, इसको ही विवेकी पुरुष अनिर्वाच्य परम सुख कहते हैं, उस सुखको मैं कैसे जान सकूंगा। क्या वह हमारी वुद्धिका विषय होता है, या नहीं ? उत्तर—

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥

सबको प्रकाश करने वाला सूर्य भी आत्मस्वरूप व्रह्म को प्रकाशित नहीं

करता, चन्द्रमा तारे विद्युत भी आत्मा को नहीं प्रकाशित करते, फिर अग्नि की तो बात ही क्या है, आत्मा के प्रकाश से ही सब कुछ प्रकाशित होता है ।

यहां प्रश्न यह हो सकता है कि जो वस्तु किसी का विषय होता है, उस वस्तु को 'है' ऐसा कहते हैं, और जो वस्तु किसी का विषय ही नहीं वह वस्तु नहीं है, ऐसा कहलाता है, आत्मा किसी का विषय नहीं है, अतः आत्मा नहीं है यही मानना चाहिए ? उत्तर---

ऐसी बात नहीं है, यह आत्मा अत्यन्त अविषय नहीं है, क्योंकि वह 'हम' प्रत्यय का विषय है, और स्वप्रकाश है क्योंकि प्रत्यगात्मा प्रसिद्ध है । मैं हूं ऐसा सबको प्रतीत होता है, मैं नहीं हूं ऐसा किसी को भी प्रतीत नहीं होता । दूसरी बात यह की श्रुति कहती है कि—

यदिदं किंच जगत्सर्वं प्राण एजति निसृतम् ।
महद्भयं वज्रमुद्यतं य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥

यह जो कुछ जगत् है वह ब्रह्म से ही प्रादुर्भूत होकर उसी से चेष्टा कर रहा है । वह ब्रह्म महान भयरूप है, उठाये हुये वज्र के समान है, जैसे अपने सामने स्वामी को हाथ में शस्त्र उठाये देखकर सेवक लोग नियमानुकूल अपना अपना कार्य करते हैं, वैसे ही सूर्य, चन्द्रमा, नक्षत्र और तारा गणों के सहित सारा जगत् एक क्षण भी विश्राम लिये बिना अहर्निश नियमानुसार उसी के आज्ञा में वर्तता है । समस्त व्यवहार के साक्षी भूत ब्रह्म को अपने अन्तःकरण में जानकर जीव अमृत (अमर) हो जाता है ।

भयादग्निस्तपति भयात्तपति सूर्यः ।
भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युः धावति पञ्चमः ॥

उस परमेश्वर के भय से अग्नि तपता है, इसी के भय से सूर्य तपता है, एवं इन्द्र, वायु और मृत्यु भी इसी के भय से दौड़ता है ।

सबके भय का हेतु भूत ब्रह्म को जीवन काल में ही जान कर जीव संसार बन्धन से मुक्त हो जाता है । और यदि उसको नहीं जाना तो जन्म

मरण की चक्की में पिसता रहता है, अतः शरीर पात होने के पहले ही आत्मा को जानने का प्रयत्न करना चाहिये।

जिस समय हृदय में आश्रय करके रहने वाली सब कामनायें छूट जाती है, उस समये मनुष्य अमर हो जाता है, तथा इसी शरीर में बृह्म भाव को प्राप्त हो जाता है। समूल कामनाये कब नष्ट होती है? इसका उत्तर श्रुति देती है—

यदा सर्वे प्रभिद्यन्ते हृदयस्येह ग्रन्थयः।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्येतावद्धयनुशासनम् ॥

जब जीवन काल में ही हृदय की ग्रन्थियां नष्ट हो जाती है, अर्थात् मैं देही हं यह मेरा धन हैं, मैं सुखी हूं, मैं दुःखी हूं, इत्यादि अविद्या से प्रतीत होने वाली ग्रंथियां है, उसके विपरीत जब ब्रह्मात्मैकत्वभाव अनुभव होने पर मैं असंसारी बृह्मस्वरूप हूं, ऐसा बोध हो जाता हैं, तब अविद्या के कारण उत्पन्न होने वाली कामनारूप ग्रंथियां समूल नष्ट हो जाती है, तब मर्त्य अमर हो जाता है। बस, इतना ही समस्त वेदान्तों के अनुशासन है, इससे अधिक कुछ नहीं है।

मृत्युप्रोक्तां नचिकेतोऽथ लब्ध्वा, विद्यामेतां योगविधिं चकृत्स्नम्।
बृह्मप्राप्तो विरजोऽमूद्धि मृत्युरन्योऽप्येवं यो विद्ध्यात्ममेव ॥

मृत्यु से कही हुई उपर्युक्त बृह्म विद्या एवं योग विधि को प्राप्त कर नचिकेता बृह्मभाव को प्राप्त हो गया, अर्थात् विरज--धर्माधर्म एवं कामना और अविद्या से रहित होकर मुक्त हो गया। दूसरा भी जो कोई इस अध्यात्मतत्व को जानेगा वह भी बृह्म-विद्या प्राप्ति द्वारा मुक्त हो जायगा।

नायं देहो देहभाजां नृलोके
कष्टान् कामानर्हति विड्भुजां ये।
तपो दिव्यं पुत्रका येन सत्वं
शुद्धयेद्यस्माद् ब्रह्म सौख्यं त्वनन्तम् ॥

हे पुत्रो ! इस लोक में समस्त प्राणियों में श्रेष्ठ यह मनुष्य शरीर श्व शूकर आदि निकृष्ट जीवों के भोग्य निन्दित विषय भोग के लिये नहीं है किन्तु जो दूसरे शरीर से अलभ्य (नहीं प्राप्त होने योग्य) दिव्य तप करने के लिये है। तप से अन्तः करण शुद्ध हो जाने पर अनन्त अविनाशि ब्रह्मानन्द सुख प्राप्त होता है।

शास्त्रों में महापुरुषों की सेवा मुक्ति का द्वार और स्त्रियों के संग एवं स्त्री संगियों के संग नरक का द्वार कहा गया है। महापुरुष वही है जो शत्रु मित्र में समान व्यवहार करते हैं, एवं जिसका शुद्ध चित्त है, क्रोध रहित सकल प्राणियों के हित करने वाले हैं और दूसरे के दोष को नहीं ग्रहण करते हैं।

अथवा

ये वा मयीशे कृतसौहृदार्था
जनेषु देहमरणार्थिकेषु ।
गृहेषु जायात्मजरातिमस्तु ।
न प्रीतियुक्ता यावदर्थाश्च लोके ॥

महापुरुष वे हैं जो मुझ परमात्मा में ही प्रेम करना अपना परमपुरुषार्थ समझते हैं। एवं देह के भरण पोषण में लगे हुये जीवो में तथा स्त्री पुत्र धन और मित्रादि से सम्पन्न गृह में भी प्रेम नहीं करते, देह निर्वाह मात्र ही जिनका प्रयोजन है, वे महापुरुष कहे जाते हैं।

जो व्यक्ति इन्द्रियों के ही लालन पालन में लगे रहते हैं, वे कर्तव्याकर्तव्य के ज्ञान रहित होकर अवश्य कुकर्म याने पाप कर्म करते हैं इसको हम अच्छा नहीं समझते हैं, क्योंकि इसी विषय मात्र के कारण आत्मा को असत्--मिथ्या होने पर भी दुःखदायक यह शरीर प्राप्त होता है।

जब तक आत्मा का यथार्थ सच्चिदानन्द स्वरूप जानने की जिज्ञासा--इच्छा नहीं होती एवं विचार पूर्वक अपरोक्ष ज्ञान नहीं होता, तब तक अज्ञान के कारण आत्मा का पराभव--जन्म मरण होता रहता है। तथा जब तक अज्ञान है तब तक कर्म त्याग नहीं होता, और जब तक कर्म त्याग नहीं होता,

तब तक वासना के वशीभूत कर्मात्मक मन कर्म में प्रवृत्त रहता है तब तक परमात्मा में प्रेम हुये बिना देह बन्धन से जीव मुक्त नहीं हो सकता है।

स्वार्थ में प्रमत्त यह जीव जब तक विचार पूर्वक इन्द्रियों के चेष्टावों को मिथ्या नहीं जानता, तब तक आत्मरूप की स्मृति नहीं होती, और सच्चिदानन्दस्वरूप आत्मा के विस्मृत होने से, मैथुनजन्य सुख प्रधान गृह स्त्री आदि में आसक्त होकर विविध प्रकार के दुःखों को भोगता रहता है।

पुंसः स्त्रिया मिथुनीभावमेनं
तयोर्मिथो हृदयग्रन्थिमाहुः

पुरुष और स्त्रियों का परस्पर पति पत्नी रूप भाव को हृदयग्रन्थि कहते हैं। यों तो मनुष्य को देह इन्द्रिय आदि में अहंता ममता रूप मोह ही ग्रन्थि है, दूसरा जो यह पति, पत्नी में यह मेरी स्त्री है, यह मेरा पति है, मेरा गृह, मेरा धन, मेरा पुत्र है यह तो दुर्भेद्य महामोह ग्रन्थि है, इसी से जीव जन्म मरण रूप संसार चक्र में घूम रहा है।

अनेकों जन्मों के कर्ममय वासना से दृढ़ यह मनोमय हृदय ग्रन्थि जब शिथिल हो जाती है, तब यह जीव संसार से विमुख हो जाता है, और समस्त अनर्थका मूल अहंता ममता से छूट कर परम पद प्राप्त कर लेता है।

समस्त अनर्थ का मूल अहंता ममतारूप हृदयग्रन्थि कैसे छुटे, इसका उपाय चार श्लोको से कहते हैं—

विवेकी पुरुष को चाहिये कि धैर्य पूर्वक निम्नलिखित उपाय से दृढ़ प्रयत्न से अहं नामक लिङ्ग शरीर को निराकरण करेः—

हंसे गुरौर्मयि भक्त्याऽनुवृत्या,
वितृष्णया द्वन्द्वतितिक्षया च।
सर्वत्र जन्तोर्व्यसनावगत्या
जिज्ञासया तपसेहानुवृत्या ॥

हंस के समान आत्मा एवं अनात्मा के विवेक करने वाले गुरु में एवं मुझ परमात्मा में भक्ति से एवं तृष्णा रहित, सुख दुःख सहन करने से, तथा जीव को इस लोक और परलोक में सर्वत्र दुःख ही दुःख है, सुख का लेश भी नहीं है ऐसा सदा अनुसन्धान करने से तत्व विचार, तप व्रतोपवास आहारादिमें नियम से, तथा काम्य कर्म के त्याग से हृदय-ग्रन्थि शिथिल हो जाती है। और—

मत्कर्मभिर्मत्कथया च नित्यं,
मद्देवसंगात् गुणकीर्तनान्मे।
निर्वैरसाम्योपशमेन पुत्रा
जिहासया देहगैहात्मबुद्धेः ॥

हे पुत्रों ! सर्वकर्म भगवदर्पण करने से, भगवत् कथा श्रवण से, मैं ही एकमात्र ध्येय ज्ञेय और आराध्य हूं ऐसे भगवत् भक्तो के संग से, सुख दुःख में समान रहने से; चित्तवृत्ति निरोध से, भगवान् के गुणों के कीर्तन से, प्राणियों में वैर त्याग करने से हृदय ग्रन्थि छुट कर परम पद प्राप्त करता है। और भी—

अध्यात्मयोगेन विविक्तसेवया
प्राणेन्द्रियात्माभिजयेन सम्यक् !
सच्छ्रद्धया ब्रह्मचर्येण शश्वद—
संप्रमादेन यमेन वाचाम् !!

अध्यात्म शास्त्र के चिन्तन, एकान्त देश में वास, प्राण, इन्द्रिय और मन के वश में करने से, एवं श्रद्धा पूर्वक शास्त्रविहित वर्णाश्रमधर्म के अनुष्ठान करने से तथा ब्रह्मचर्य एवं कर्तव्यकर्म का त्याग न करने और वाणीसंयम से भी हृदय ग्रन्थि छुट कर परमपद प्राप्त होता है। और भी—

सर्वत्रमद्भाव विचक्षणेन
ज्ञानेन विज्ञानविराजितेन।
योगेन धृत्युद्यमसत्वयुक्तो,
लिङ्गं व्यपोहेत् कुशलोऽहमाख्यम् ॥

हे पुत्रो ! समस्त प्राणियों में भगवद् भावना से, एवं ज्ञान-शास्त्रज्ञान सहित अनुभव ज्ञान से और धैर्य पूर्वक योग साधन से युक्त विवेक से अहंकार नाम की उपाधि जो समस्त संसार का कारण भूत लिङ्ग शरीर हैं उसका निराकरण करना चाहिये ।

जन्म जन्मान्तर के कर्मों का आधार अविद्या से प्राप्त देहेन्द्रिय में अध्यास रूप अहं इस हृदय ग्रन्थि को सावधानी से उपर्युक्त साधनों से खोज कर अन्त में साधनों को भी त्याग देना चाहिये ।

यद्यपि फल सिद्ध होने पर साधन से भी उपराम हो जाता है, तो भी कुछ लोग "यावज्जीवेत् अग्निहोत्रं जुहुयात्" इस वचन के आधार पर जीवन पर्यन्त कर्म करते रहना चाहिये, ऐसा कहते हैं—

पुत्रांश्च शिष्यांश्च नृपो गुरुर्वा
मल्लोककामो मदनुग्रहार्थः ।
इत्थं विमन्युरनुशिष्यादतज्ज्ञा —
न्नयोजये कर्मसु कर्ममूढान् ॥

मुझ ईश्वर की लोक प्राप्ति चाहने वाले, अथवा ईश्वर के अनुग्रह को ही परमपुरुषार्थ मानने वाले, पिता अथवा गुरु या राजा को चाहिये कि अपने पुत्र शिष्य और प्रजाओं को ऐसी शिक्षा दें, जिससे तत्वज्ञान में उनकी प्रवृत्ति हो जाय, यदि अज्ञान् के कारण वे मूढ कर्म में ही प्रवृत रहें तो भी उन पर क्रोध न करके कर्म से निवृत्त कराकर ज्ञान में ही प्रवृत्त करे ।

विषयासक्ति से कर्म में लगे हुये को पुनः कर्म में ही प्रवृत्त कराना तो ऐसा है जैसे को कुंये (गढे) में ढकेल देना । इस संसार रूप गढे में ढकेल कर क्या लाभ होगा, प्रत्युत पाप ही होगा । अतः काम्य कर्म में लगे हुये विषयासक्त को काम्य कर्म से निवृत्त कराकर निवृत्ति मार्ग में प्रवृत्त करना चाहिये ।

लोकः स्वयं श्रेयसि नष्टदृष्टि—
र्योर्थान् समीहेत निकामकामः ।

अन्योन्यवैरः सुखलेशहेतो—
रनन्तदुःखं च न वेद मूढः ॥

इस संसारी जीव को अपने कल्याण मार्ग का ज्ञान नहीं है, इसी लिये नाना प्रकार की कामनाओं को करता रहता है। और सुख लेश-तुच्छ क्षणिक सुख के लिये आप से वैर--शत्रुता कर लेता है, एवं निरन्तर विषय भोग के ही प्रयत्न में लगा रहता है, किन्तु विषय भोग का फल, नरकादि अनन्त दुःख भोगना पड़ेगा यह नहीं विचार करता है।

गढ़े में गिरने के लिये कुमार्ग में चलने वाले अन्धे को कौन दयालु एवं विवेकी पुरुष इसी रास्ते जावो ऐसा कहेगा, इसी प्रकार अविद्या अज्ञान के कारण परद्रोह के द्वारा अपने को सुख प्राप्त होगा, ऐसा समझकर काम्य कर्म में लगे हुये कुबुद्धि पुरुष को उसी काम्य में दयालु पुरुष कैसे प्रेरित करेगा।

गुरुर्न स स्यात्स्वजनो न स स्यात्
पिता न स स्यात् जननी न सा स्यात्।
दैवं न तत् स्यान्न पतिश्च स स्या—
न्न मोचयेद्यः समुपेतमृत्युम् ॥

अपने प्रियों के भक्ति मार्ग का सदुपदेश देकर जन्ममरणरूप मृत्यु से जो नहीं छोड़ाता वह गुरु नहीं कहा जा सकता, एवं वह स्वजन स्वजन, पिता, पिता, माता माता नहीं कही जा सकती, तथा देव देव, पति पति भी नहीं कहा जा सकता है। स्वजन, पिता, माता दैव पति वही कहला सकता है, जो इस संसार रूप मृत्यु से छोड़ाने वाला है।

इति—